

ग़लत-ग़लत

रमेश उपाध्याय

इस बार फरवरी अट्टाईस की है। स्टिक में आठ पाइंट के छोटे-छोटे टाइप रखते हुए सात तारीख को मिलने वाले साठ रुपयों के बारे में सोचकर खुश हो आता हूँ। कुछ तो फ़ायदा है ही। तीस-इकतीस दिन काम करने पर भी साठ और अट्टाईस दिन करने पर भी। साल के अधिकांश महीनों में इकतीस दिन होने की बात बुरी लगती है, किंतु आज मैं गुस्से और दुःख से अलग हटकर कोई बात सोचना चाहता हूँ। मन ही मन अनुमान लगाता हूँ कि ओवरटाइम के लगभग तीस रुपए और हो जाएँगे। साठ और तीस-नब्बे। चालीस एडवांस के निकाल दो-पचास। बस?

मन कसैला-सा हो आता है। रुपयों की बात सोचकर अच्छा नहीं किया। कोई और अच्छी बात सोचनी चाहिए। जैसे पुल पर खड़े होकर नीचे बहते हुए पानी को देखने के बारे में कोई बात। अगहन की अँकुराई खेती पर जमी हुई ओस-बूँदों की बात। चाँदनी रात में रातरानी की गँधाती कलियों और डेविड के वायलिन की बात।

स्टिक में जमी हुई लाइनें उतारकर गेली में रखने और कापी पर दृष्टि जमाकर कंपोजिंग का सूत्र पकड़ने के बाद जब अभ्यस्त हाथ तेज़ी से छोटे-छोटे टाइप चुनने लगते हैं तो सोचता हूँ कि आज कुछ बातें अनायास याद आए चली जा रही हैं। लगता है कि भीतर का कोई पहरेदार पुरानी चीज़ों को उलटने-पलटने लगता है।

कंपोजिंग सेक्शन सूना पड़ा है। इतवार की छुट्टी में अकेला ही एक अर्जेंट काम के लिए ओवरटाइम में आया हूँ। बनर्जी बाबू दफ्तर में बैठे ऊँघ रहे हैं और मशीनमैन विद्याराम अपनी खटारा ट्रेडिल चलाए जा रहा है। मशीन की आवाज़ें कंपोजिंग सेक्शन तब साफ़ आ रही हैं और जैसे आ-आकर कहे जा रही हैं कि ट्रेडिल समय के छोटे से छोटे टुकड़ों में सादे कागज़ों पर अपनी छाप छोड़े जा रही है। कम्पोज़ किए हुई टाइप मशीन पर चढ़कर इम्प्रेसन दे रहे हैं। थोड़ी देर में इन्हें मशीन से उतार दिया जाएगा। विद्याराम का हेल्पर उन्हें धोएगा और इधर दे जाएगा। सारे टाइप डिस्ट्रीब्यूट हो जाएँगे और उनका उस मैटर से कोई संबंध नहीं रहेगा, जिसमें लगकर वे अभी छप रहे हैं। फिर एक नया मैटर कंपोज़ होगा....

चारों और टंड, सीलन और मनहूसी छाई हुई है। धूलभरे केस, लकड़ी के पुराने रैक, ब्लॉक, लेड, रूल, कटर, चिमटी, कैची, चिप्पी, डोरी.... सब ठंडी और उदास! ऊपर जलती हुई मर्करी ट्यूब के उजाले में टंडा और सीलन से भरा कमरा, जैसे कोई गुफ़ा।

मन के भीतर का कोई पहरेदार बेतरतीब फैली हुई चीज़ों को उठा-उठाकर बाहर रख रहा है। मेरे हाथ के अँगूठे से स्टिक में टाइप जमाने के लिए जो लययुक्त खटखट हो रही है, उसी लय में वह पहरेदार काम कर रहा है। मैं जैसे हर लाइन में यथासंभव बराबर स्पेस डाल रहा हूँ, वह भी चाहता है कि बराबर जगह छोड़कर सब चीज़ें करीने से जमा दे, पर उसे असुविधा हो रही है। शायद वह इसका आदी नहीं है।

तब और अब में कितना अंतर है! पहले के दिन ऐसे नहीं होते थे-पिघले कोलतार की तरह धीरे-धीरे रिसते हुए-से। कंपोज़ तब भी करना पड़ता था, लेकिन अपने शहर से दूर एक अजनबी शहर का नयापन एक उत्तेजना-सी देता रहता था। यद्यपि नाम और संदर्भ मात्र 'कंपोज़ीटर' में सिमट आए थे और सुबह सात से शाम के सात तक की एक सीधी लकीर दिन और रात को काटती थी

और समय के वे दोनों टुकड़े जैसे अनछुए ही पास से फिसलकर पानी में जा गिरते थे।

तब ज़िंदगी पर गुस्सा भी आता। हर चीज़ बेतुकी लगती और हर बात के बाद 'क्यों' लगा देने की इच्छा होती। कोठरी की छत पर एक ही चादर ओढ़-बिछाकर सोने में मुझे तकलीफ़ होती थी, लेकिन जिस दिन तकलीफ़ होती, अँधेरी रात होती या थकान से बदन दुःख रहा होता, नींद बड़ी जल्दी आ जाती। किंतु चाँदनी रात में जब प्रमोद जी के बगीचे में रातरानी की कलियाँ गंधाने लगतीं और गली के मोड़ पर बने चैपल के पास रहने वाला डेविड वायलिन बजाया करता, तो आँखों से नींद उड़ जाती।

चाँदनी और रजनीगंधा की महक में डूबा हुआ ख़ामोश शहर अपने ऊँचे-नीचे मकानों में चुपचाप सो रहा होता। सड़कों की बतियाँ चाँदनी रातों में बुझ जाया करतीं और दुमंज़िले पर बनी उस कोठरी की छत से चारों ओर की पहाड़ियाँ सम्मोहन फेंकती हुई-सी लगतीं।

तब अपना शहर याद आता। डेविड के वायलिन के स्वर बारह-एक बजे तक दर्द में भीग-भीगकर आते रहते और मुझे लगता कि मेरे छोटे-से शहर में शकुंतला चुपचाप रो रही है। उसकी पीठ और बाँहों पर रस्सी की मार की नीली बरतें उभर आई हैं और कराहने के लिए उसकी माँ ने भिंचे स्वर में डाँट दिया है।

पास ही अपना घर है।

मुन्ना सो गया है। भाभी चौके के ओटे पर कुहनियाँ टिकाए खड़ी हैं। अम्मा, जीजी और भइया आँगन में मेरे सामने खड़े हैं। भइया कह रहे हैं, "तुझे जो लेना हो, ले जा, पर आइंदा इस घर में कदम रखने की ज़रूरत नहीं है, समझा!"

अम्मा कुछ कहने को होती हैं, पर भइया का तीखा स्वर उन्हें रोक देता है, "देखो अम्मा, तुम बीच में मत बोलो। अब या तो इस घर में मैं रहूँगा या यह

रहेगा। मेरे लिए आज से यह मर गया और इसके लिए मैं। बँटवारा करना हो, अभी कर ले, पर मेरे रहते अब यह इस घर में नहीं घुस सकता।"

मेरे पैरों में ताक़त नहीं रही है। मैं बैठ जाना चाहता हूँ। नाक से अभी तक खून बह रहा है और सिर चकरा रहा है। उस घुमेरी में जीजी की आवाज़ सुनाई देती है, "लेकिन भइया, ऐसी हालत में कहाँ जाएगा वह?" भइया फिर चीख़ उठते हैं, "ऐसी-तैसी में जाए! मुझे क्या मालूम!" और उन्होंने मेरे दोनों कंधे पकड़कर मुझे दरवाज़े की ओर ढेल दिया है।

छर्र-र-र-र-र

आठ पाइंट के नन्हें टाइपों की पूरी लाइन स्पेस डालकर कसते समय अचानक टूट जाती है। कुछ टाइप केस में गिर पड़ते हैं। ग़लत ख़ानों में गिरकर ये न जाने कितने शब्द ग़लत करेंगे!

टूटी हुई लाइन दोबारा कंपोज़ करते हुए लगता है कि मेरे बराबर का ही एक लड़का मेरे पास खड़ा हुआ झुककर टूटी हुई लाइन और छितरे हुए टाइपों को देखकर रहा है। सिर झुका हुआ है नाक से खून बह रहा है। कपड़े जगह-जगह से फट गए हैं। मार के निशान और चोट की सूजन बदन पर कई जगह दिखाई दे रही है। मैं उसकी ओर घूरकर देखता हूँ तो यह धीरे-धीरे दरवाज़े से बाहर चला जाता है। उसके हाथ दोनों ओर बेजान-से झूल रहे हैं और वह जैसे-तैसे अपने पैरों को घसीटता हुआ चल पा रहा है।

बाहर पड़ोस के घर का बंद दरवाज़ा है, जिस पर एक चिक झूल रही है और उस बंद दरवाज़े को भेदकर रस्सी की सड़ाकू-सड़ाकू की आवाज़ें आ रही हैं, साथ ही चीखें और रुदन, और सबके ऊपर एक कर्कश और भिंची हुई आवाज़, "ख़बरदार जो चिल्लाई! तू भी तो कम नहीं है, बेसरम!"

और आगे गली में जाने पर हँसी-कहकहे, घृणा और तिरस्कार में डूबे कुछ स्वर: मजनुँ है साला...ज़िंदगी-भर याद रक्खेगा.... घर से निकाल दिया? अच्छा

किया...आखिर बड़ा लड़का समझदार है, इसकी तो साले की सोहबत ही ऐसी है!

सोहबत!

उस हालत में आते हुए देखकर मिसरानी भौजी दौड़ पड़ती हैं, “अरे भइया, ई का भवा? ई का हाल बनाए रक्खा है? कौनो साथे झगड़ा होइ गवा का? हाय दइया!” मोहल्ले वालों को गालियाँ देती जाती हैं और हल्दी-चूने का गरम लेप चोटों पर लगाती जाती हैं। अर्द्धमूर्च्छा की स्थिति में लगता है, जैसे अपने सब लोग खड़े-खड़े देख रहे हैं और मिसरानी भौजी अपनी कोमल उँगलियों से रग-रग सहलाए जा रही हैं।

मिश्राजी और मिसरानी भौजी से कुछ नहीं छिपा। उन्हीं से तो चालीस रुपए उधार लिए थे और रोज़ दो घंटे का ओवरटाइम बचाकर लौटाए थे। शकुंता को समझा दिया था कि अपनी माँ को न बताए, कह दे, प्रिंसिपल ने अपनी तरफ़ से इन्तहान की फ़ीस भर दी है, तीस-पैंतीस रुपए के पीछे कॉलेज का रिज़ल्ट और शकुंता का साल बिगाड़ना वे नहीं चाहतीं।

यह झूठ उस समय अच्छा लगा था। एक सपना टूटने से बच गया था, जिसकी रक्षा शकुंता की माँ से नहीं हो पा रही थी। लेकिन परीक्षा के बाद जब शकुंता ने उसी झूठ का सच माँ से कह दिया था तो वे उबल पड़ी थीं। छाती पीटती हुई गली में निकल आई थीं, “हाय, अब तो ग़रीबों की इज़्ज़त आबरू ही नहीं रही। विधवा बामनी लुट गई रे! सीधी जान के छोरी को बहकाय लिया रे-रे-रे...चालीसा रुपैया की खातिर....”

चालीस रुपए की तो आड़ थी। शकुंता की माँ उस दिन का बदला ले रही थीं जिस दिन मैंने कह दिया था, “माँजी, न हो कोई छोटी-मोटी दुकान ही रख लो घर में, दो ही तो जीव हो, गुज़ारा हो जाएगा। ये सीधे-सवैया नेग-पूजा... ” जी में आया था, कह दूँ कि पुरोहिताई के नाम पर भीख लेना अच्छी बात नहीं है, पर कहा इतना ही, “...अब वक़्त बदल गया है।”

माँजी को बुरा लगा था। उस समय बात टाल गई थी, लेकिन मन में एक गाँठ पड़ गई थी, जो मौक़ा पाते ही उस दिन खुल पड़ी।

और मोहल्ले वालों का खून खौल उठा था- ग़रीबनी की बैटी है...जित्ती सामर्थ्य थी, पढ़ाया; नहीं पढ़ा सकती, घर बिठा लिया...उसके बाप का इसमें क्या जाता था...वह कौन होता था, चोरी-छिपे चालीस रुपए देकर फ़ीस भरने वाला..और फिर, उसके पास चालीस रुपए आए कहां से...तनखा तो पूरी की पूरी घर में दे देता है...मिलते ही कितने हैं, पैंतालीस रुपल्ली...घर में किसी ने नहीं दिए? फिर?...फिर क्या, कहीं चोरी-चपाटी की होगी...कब की बात है...तीन महीने पहले की...अरे, तभी हमारे घर में घड़ी चोरी गई थी...बस्स, घड़ी बेच के चालीस दिए होंगे शकुंता की फ़ीस के और और बाकी उड़ा दिए होंगे...अरे, उड़ा क्या दिए होंगे, दिन-रात उस मिसरानी के यहाँ घुसा रहता है....पूछो, इसी से पूछो...बता, कहाँ बेची थी घड़ी....झूठ, झूठ बोलता है...बता, कित्ते रुपए लिये थे...नई बताता तो ले....मारो साले को...अपने आप कबूलेगा...

लगता है, उस समय सारी दुनिया के प्रति विद्रोह-भाव से भरकर जो इस अजनबी शहर में चला आया था, वह कोई और था। वह कोई और ही रहा होगा, जो मिश्राजी का दिया हुआ धोती-कुरता पहने भारती प्रेस में आ खड़ा हुआ था और काम माँगने लगा था। आज का-सा मन होता तो रेल में बैठकर यहाँ आने के बजाय रेल के नीचे लेटकर कहीं चला जाता, किंतु उन दिनों तो एक आग थी-हरामज़ादो, तुमने मुझे बेकसूर मारा है, ठहर जाओ थोड़े दिन, गिर-गिनकर एक-एक से बदला लूँगा...उन दिनों बार-बार इच्छा होती थी कि कोई डाकुओं का गिरोह मिल जाए तो उसमें शामिल हो जाऊँ....तब एक-एक को भूनकर रख दूँ...

लेकिन भारती प्रेस में काम मिल गया था और बनर्जी बाबू ने ही एक कोठरी पाँच रुपए महीने पर दिला दी थी। शुरू-शुरू में सामान के नाम पर मिसरानी भौजी की दी हुई एक चादर-भर थी, किंतु धीरे-धीरे कोठरी में सामान बढ़ गया

था। पचास रुपए में आराम से महीना कट जाता था। एक ही चादर ओढ़-बिछाकर सोने की मजबूरी नहीं रह गई थी, किंतु जब चाँदनी रात में रजनीगंधा महकने लगती और डेविड के वायलिन के स्वर दर्द में भीगभीगकर आने लगते, तब नींद उड़ जाती।

ओटे पर कुहनियाँ टिकाए खड़ी भाभी एकटक देखती रहती। अम्मा और जीजी के होंठ कुछ कहने के लिए फड़कते रहते। भइया मुझे घर से बाहर ढेलते रहते और मैं सिर झुकाए, बेजान-सी बाँहें लटकाए, पैरों को घसीटता हुआ-सा दरवाज़े से निकलता रहता, और पास ही कहीं एक जवान लड़की रस्सियों की मार के बाद कराहती रहती।

किंतु एक दिन वायलिन ख़मोश हो गया। वह ख़ामोशी बड़ी अटपटी लगी थी। यों मैं जानता था कि डेविड कैंसर का मरीज़ है, उसे किसी भी दिन वायलिन छोड़ना पड़ सकता है, लेकिन एक दिन उसने कहा था, “माधो बाबू, डॉक्टर साला हमको बोला के वायलिन मत बजाओ, लेकिन हम पलट के कहा, ‘डाक्टर, वायलिन नई बजाएगा तो जिएगा कैसे? ग्रेस को हम कोई खुशी नहीं दे पाया, वायलिन उसका हॉबी है, वह भी हम बंद कर दे? नई-नई मरते दम तक हम बजाता रहेगा’।”

कहते-कहते उसके गले की नसें फूल आई थीं और कत्थई बुँदकियों वाले सफ़ेद चेहरे पर लाल रंग उभर आया था। चैपल के अहाते की दीवार पर बैठकर वह बड़े इत्मीनान से बातें किया करता था। उसने आयरलैंड कभी नहीं देखा था, लेकिन उसका नक्शा उसके दिमाग़ में घूमता रहता। कहता, “माधो बाबू, हमारा पेरेंट्स हमको एक महीने का लेकर यहाँ आया था। हम आयरिश है। एक महीने का बच्चा क्या होता है? यहीं इतना बड़ा हो गया। तुम समझते हो, मुझे ठीक से हिंदुस्तानी बोलना नहीं आता। लेकिन भाई, इस चैपल के अहाते में मेरे माता-पिता की बहुत-सी यादें हैं। उन्हें बनाए रखने के लिए मैं वैसे ही

बोलता हूँ, जैसे वे बोलते थे। बहुत प्यार करते थे मुझे।” कहते हुए उसने हवा में एक क्रॉस बनाया था।

लेकिन उस दिन वायलिन नहीं बज रहा था। लगता था कि चाँदनी रात में चैपल के पास का वह इलाका उस स्वर के बिना वीरान हो गया है। देखने के लिए उतरा ही था कि डेविड की मृत्यु की सूचना देता हुआ चैपल का घंटा बज उठा था।

उस दिन ग्रेस को देखा था, फूट-फूटकर रोते हुए। उस ग्रेस को, जो बीमार और बेकार डेविड को चुनकर अपनी नौकरी से उसके साथ गृहस्थी चलाती हुई हड्डियों की हलकी और दुबली ऊँचाई-भर रह गई थी। मेरी समझ में नहीं आता था कि कौन-सा सुख भोगा होगा उन्होंने....पर....

मैंने भी तो बड़े यत्नपूर्वक अपने परिवेश में अतीत की हर चीज़ का एक पर्याय खोज निकाला था। अम्मा के लिए पड़ोस में रहने वाली प्रमोद जी की माँ, जीजी के लिए बंगाली बाबू की बहन रोमा दी, भाभी के लिए मोना भाभी, मिश्रा जी के लिए विमल दा और मिसरानी भौजी के लिए शांता भाभी-लेकिन शकुंता का पर्याय नहीं मिलता था। उसके पर्याय की तलाश जारी थी। इन पर्यायों की तलाश में कभी-कभी मन झूठे आत्मतोश से भर जाता कि ये सारे संबंध ज़बरदस्ती थोपे हुए नहीं हैं, बल्कि स्वयं बनाए हुए हैं। सब कुछ स्वयं अर्जित किया हुआ है।

एक इच्छापूर्वक चुन लेने का अहसास होता-खरीद लेने की-सी अनुभूति, जो भ्रांति होकर भी सुख देती थी।

पर डेविड की मृत्यु ने सब कुछ झुठला दिया। चाँदनी रातों की खामोशी दूर करने के लिए कोई डेविड नहीं खरीदा जा सकता। ग्रेस के आँसुओं को सुखाने के लिए कोई ऐसा रूमाल नहीं खरीदा जा सकता, जो उसकी आँखों में गहराती हुई डेविड के अभाव की खाई को ढँक-पात दे!

आदमी बातों को खानों में बाँटकर और एक-एक खाने से टाइप लेकर ज़िंदगी कंपोज़ करता चला जाता है, लेकिन मैं कंपोज़ीटर होते हुए भी....

झाड़ी से एक टहनी खींचने पर जैसे एक-दूसरे से उलझकर बहुत-से झाड़-झंखाड़ खिंच आते हैं, वैसे ही अपनी बातों के साथ और बहुत-सों की बातें और यादें, चली आती हैं।

उस दिन अचानक भारती प्रेस का पता पूछते हुए भइया मेरे सामने आ खड़े हुए, तो मेरे हाथ काँप गए थे। पाँच-छह महीने बाद बिना किसी सूचना के भइया क्यों चले आए? उस दिन भी नन्हे-नन्हे टाइपों से कंपोज़ की हुई एक लाइन टूट-बिखर गई थी। टूटी हुई लाइन दोबारा कंपोज़ करने के बजाय मैं स्टिक एक ओर रखकर भइया के पैर छूने के लिए झुक गया था और जब सबके सामने भइया की आँखों से आँसू निकल पड़े थे, तो लगा था कि भइया की ज़िंदगी की पूरी गेली के प्रूफ़ में ये आँसू 'रैंग फ़ौट' बनकर चमक रहे हैं।

मेला-सा सफ़ेद कूर्ता और धोती। पैरों में टूटी चप्पल। बिखरे हुए बाल और चेहरे पर रात-भर के जागरण और सफ़र की थकान-उदासी बनकर जमी हुई। सहसा विश्वास नहीं हुआ कि भइया इतने दयनीय रूप में भी कभी मेरे सामने आ सकते हैं।

छुट्टी लेकर प्रेस से निकला तो समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें कहाँ ले जाऊँ। कोठरी छोड़ने का दुःख हो रहा था। पाँच रुपए की बचत के मोह में.. ..लेकिन.....भीतर ही भीतर एक भय-सा मुझे कँपाए जा रहा था-मेरे साथ प्रेस को देखकर क्या कहेंगे भइया?

फिर सहसा सिर झुकाए, बेजान-से हाथ झुलाता और पैरों को घसीटते हुए दरवाज़े से बाहर निकलता हुआ एक लड़का मेरी आँखों के सामने से गुज़र गया और मैं कठोर हो आया। पूछा इतना ही, "अम्मा कैसी हैं?"

"ठीक हैं।"

"भाभी"

"वह भी"

"और जीजी?"

"गए महीने उसका ब्याह कर दिया।"

मैंने भइया की ओर घूरकर देखा। लगा कि उनकी उदासी और चेहरे पर जमी पीड़ा की पर्तें एक मेकअप हैं, जो किसी खास भूमिका के लिए किया गया है। कहा, "मुझे ख़बर भी नहीं दे सकते थे?"

"तुझे बुलाने का मन तो बहुत था, पर लोग न जाने क्या सोचते...किसी का मुँह तो पकड़ा नहीं जाता....कहीं शादी ही रुक जाती..."

"हूँ!"

"तू अभी तक नाराज़ है?"

"नाराज़ होने से क्या होता है! यहाँ कैसे आना हुआ? पता कैसे चला कि मैं यहाँ हूँ?"

"मिश्रा जी जौनपुर जाते समय पता दे गए थे। मारहरा वाले पीछे पड़े हैं अपनी लड़की के लिए।"

"सब जानते हुए भी?"

"अरे, उससे क्या फ़रक पड़ता है!"

मैंने फिर उनके चेहरे की ओर देखा, शायद तीखेपन से कहने के लिए कि जीजी के ब्याह में मेरे आने से क्या फ़रक पड़ता था! भइया एक क्षण ठिठककर मुझे घूरने लगे थे। शायद मेरी दृष्टि अधिक तीखी हो गई थी। फिर उनकी आँखों में ऐसी मजबूरी झलक आई थी, मानो कह रहे हों-क्या बात है, तू हम लोगों को माफ़ नहीं कर सकता?

लेकिन मन यह सब सुनने के लिए तैयार नहीं था। अपना अपमान चुभ रहा

था। इच्छा हो रही थी कि भइया को जितना सता सकूँ, सताऊँ। शायद वही मौका था। एक क्षण सोचकर मैंने कहा डाला था, “मैंने शादी कर ली है।”

“शादी कर ली है? कब? किससे?” भइया ने मेरी बाँह पकड़कर मुझे झिंझोड़ दिया था। क्षण-भर को आंतक और क्रोध का मिला-जुला-सा अनुभव हुआ था, किंतु भइया की पकड़ ढीली हो जाने पर आवाज़ खींचकर मैंने कह दिया था, “चलो, देख लो चलकर।”

भइया ग्रेस को थोड़ी देर तक एकटक देखते रहे थे, फिर उनकी आँखों में वही ‘तू मेरे लिए मर गया’ वाला भाव आ गया था। बोले, “अच्छा, मैं चलूँ अब।”

“कहाँ?”

“आज ही लौट जाना है।”

“लेकिन खाना...थोड़ा आराम तो कर लेते, सफ़र में थक गए होंगे।”

“खाना...आराम...” भइया बुदबुदाए, “खैर, जो तुम्हारे मन में आए, करो। ..आदमी को अकेले ही...अपने ही पैरों पर...” और उठकर चल दिए थे। ग्रेस ने रुकने के लिए कहा तो उनका चेहरा क्रोध और घृणा से तन गया। उस समय भइया पर गुस्सा आया। लगा कि यदि ग्रेस के लिए एक शब्द भी उन्होंने कहा तो...कुछ अनहोना हो जाएगा। लेकिन भइया चुपचाप ही पलट पड़े थे। सीधे स्टेशन। गाड़ी चलने तक मैं पास रहा, पर भइया मेरी ओर से मुँह फिराए रहे। कुछ भी नहीं बोले। मुझे लग रहा था कि गाड़ी चलने के क्षण तक भइया का क्रोध शांत हो जाएगा और वे गाड़ी से उतरकर मेरे साथ चल देंगे, कहेंगे, खैर, अब जो है, ठीक है, किंतु प्लेटफ़ार्म पर उनके डिब्बे की खिड़की के सामने मैं हाथ जोड़े खड़ा रह गया और भइया दूसरी दिशा में देखते चले गए। यह भी नहीं देख पाया कि जाते समय उनकी आँखों में क्या था!

लौटते समय उनके बुदबुदाए हुए शब्द याद आते रहे - ‘आदमी अकेले ही.

..अपने ही पैरों पर...’ लेकिन ये ही शब्द एक बाद कितने तीखे स्वर में कहे थे भइया ने, ‘हाईस्कूल करा दिया, यही बहुत है। आगे हमारी सामर्थ्य नहीं है। मेरी मानो तो प्रेस में काम सीखकर कुछ कमाने लायक बनो, मैंने शिवदयाल जी से बात कर ली है। और आगे तुम जानो और अम्मा जानें। मेरे पास नहीं है पैसा। कल को तुम तो पढ़-लिखकर अपनी गृहस्थी सँभालोगे, फिर...मुझे तो अपने बाल-बच्चे देखने हैं। आदमी अकेले ही झेलता है, अपने पैरों पर ही उसे खड़े होना पड़ता है।’

तब से स्कूल-कॉलेज की चर्चा भी घर में नहीं चली। प्रेस में दो महीने काम सीखने के तीस रुपए और तीसरे महीने से पैंतालीस रुपए महीने...छह पाइंट से बहत्तर पाइंट....ब्लैक-व्हाइट-इटैलिक..लेड, रूल, कैंची चिमटी...एक-एक अक्षर.. एक-एक अक्षर...

ये ऊँगलियाँ एक दिन शिथिल हो जाएँगी, तब बूढ़े भोलाराम कंपोज़ीटर की तरह तनखा सत्तर से घटाकर पचास कर दी जाएगी...फिर पचास से तीस रुपए... और एक दिन नौकरी से निकाल दिया जाएगा, ‘भोलाराम, अब तुमसे काम तो होता नहीं, बुढ़ापे में बैठकर आराम क्यों नहीं करते?’

‘साब, कमानेवाला तो मैं ही हूँ, आराम करूँ तो...’

‘अब तो लड़का बड़ा हो गया है, उसे सिखा दो काम!’

‘वह पढ़ रहा है, साब, पढ़-लिख जाएगा तो ज़िंदगी बन जाएगी।’

‘लेकिन हम यह रोज़-रोज़ का नुकसान कैसे देखें? एक रुपए में तुम जितना काम करते हो, कोई नया लड़का बारह आने में उतना काम खींच देगा।’

‘लेकिन....’

लेकिन कुछ नहीं। भोलाराम कंपोज़ीटर ज़िंदगी के पचास वर्ष छह पाइंट से बहत्तर पाइंट के फेर में बिताकर, ठंड, सीलन और उदासी से भरे इसी कंपोज़िंग सेक्शन में पचास साल तक मेहनत से नौकरी करने के बाद बेकार हो जाता है.

.. दिन-भर काम में लगी रहने वाली ग्रेस और दुबली और कमज़ोर होती जा रही है। नौकरी से उसे निकाल दिया गया है। मेरे अस्सी-नब्बे रुपए में ही दोनों का काम किसी तरह चल रहा है, लेकिन अकसर यह महसूस होता है कि यह जीने का सही तरीका नहीं है।

रात के अँधेरे में जब हम दोनों की साँसें एक-दूसरे के पास जागी हुई पड़ी रहती हैं, तब डेविड के माँ-बाप के समय की पुरानी दीवार-घड़ी क्लिक-क्लिक के बजाय ग़लत-ग़लत कहती हुई लगती रहती है।

ग़लती के इस अहसास से बचने के लिए और अँधेरे में एक-दूसरे से अपना चेहरा छिपाने के लिए हम समीप आ जाते हैं, लेकिन यह अहसास पीछा नहीं छोड़ता। जाने क्यों सब कुछ भूल जाने के क्षणों में भी यह याद रहता है कि हम जी नहीं रहे, मृत्यु की टंडी, अँधेरी और गहरी गुफा में उतरते जा रहे हैं।

उस दिन देर रात तक ओवरटाइम करने के बाद घर लौटा तो लगा कि मौसम बदल गया है। सर्दी खत्म हो गई है और हवा में कुछ खुशकी-सी आ गई है। चाँदनी फैली हुई थी और सड़क-बत्तियाँ बुझी हुई थीं। चैपल के अहाते में पाँव रखते ही लगा कि डेविड की कमी आज सब दिनों से अधिक खटक रही है। वायलिन की धुन की कसर है कि वह हो और रात का अधूरापन मिट जाए।

एक आह-सी अहाते की हवा को सौंपते हुए कमरे की ओर आया तो लगा कि खिड़की के सहारे वायलिन लिए हुए अपनी परिचित मुद्रा में डेविड खड़ा है। बस, खड़ा ही है, बजा नहीं रहा है आगे बढ़कर पुकारा, “ग्रेस!” और बाईं हथेली से उसकी गरदन पर बिखरे बालों को सहला दिया। वह रो रही थी, पर मुझे देखकर चौंकी नहीं। वायलिन उसी तरह पकड़े रही। आँसू पोंछने की भी कोशिश नहीं की। बेहद उदास और ठंडे स्वर में बोली, “डेविड की याद आती है...” आगे का शब्द मेरा ही नाम था, लेकिन वह रुलाई में दब गया और वह वायलिन खिड़की में ही रखकर औंधे मुँह चारपाई पर जा गिरी।

चुपचाप देखता रहा। सांत्वना भी नहीं दे पाया। वायलिन को छू-सहला कर जैसे स्वयं को सांत्वना देने का प्रयत्न करता रहा।

और उस रात....

“कितना और रह गया भाई?”

“अँ?” चौंकर बनर्जी बाबू की ओर देखता हूँ, फिर एकाएक हड़बड़ाकर कहता हूँ, “बस, अभी हुआ जाता है, साहब, सिर्फ़ ग्रेस-लाइन लगानी है।”

“तो आज दो बजे छुट्टी करने का पक्का इरादा है?”

“हाँ साहब, आज तो...” मन होता है, कह दूँ कि आज ग्रेस के साथ पिक्चर देखने जाना है, पर कहा नहीं जाता।

“अच्छी बात है, लेकिन रुक जाते तो थोड़ा काम और निबट जाता।”

चुप रह जाता हूँ। मेरे चुप रह जाने का अर्थ बनर्जी बाबू समझते हैं और चुपचाप दफ्तर में चले जाते हैं। मेरे हाथ तेज़ी से कंपोज़ करने लगते हैं। लाइन पूरी होने पर मैटर उतार-बाँधकर प्रूफ़ बनर्जी बाबू की मेज़ पर रखकर टब में भरे पानी से कालिख लगे हाथ धोने लगता हूँ।

चलते समय अपना टाइम-कार्ड बनर्जी बाबू के सामने बढ़ाता हूँ तो कहते हैं, “अरे हाँ, तुम्हारी एक चिट्ठी है।” और एक पोस्टकार्ड मेरी ओर बढ़ा देते हैं।

कोने फटा पोस्टकार्ड! भाभी गुज़र गई!

कार्ड पर लिखे बदसूरत अक्षर कीलों की तरह आँखों में चुभने लगते हैं। चुपचाप कार्ड जेब में रख लेता हूँ। मन में कोई कहता है कि रोना चाहिए, लेकिन रोने जैसा कुछ महसूस नहीं होता। सामने बैठे मेरे टाइम-कार्ड पर ओवरटाइम लिखते हुए बनर्जी बाबू पर मुझे गुस्सा आने लगता है कितनी देर से ये इस कार्ड को रखे बैठे हैं।

टाइम-कार्ड जेब में रखकर बाहर आता हूँ तो लगता है कि दिमाग़ एकदम

ठप्प हो गया है। विद्याराम ट्रेडिल पर अब भी पूरी रफ़्तार से काम किए जा रहा है। प्रेस से बाहर निकलकर भी ट्रेडिल की भड़ाक्-भड़ाक् कानों पर चोट करती रहती है। भाभी के कई रूप आँखों में भर आते हैं। उनकी खिलखिलाती हुई हँसी की याद चीरती चली जाती है और सामने के मकान, सड़क और सड़क पर खेलते हुए बच्चे आँखों में डूबने लगते हैं। ओटे पर कुहनियाँ टिकाए खड़ी भाभी का चेहरा स्थिर-एकटक ताकने लगता है।

घर पहुँचता हूँ तो अचानक चौंक जाता हूँ। ग्रेस आसमानी रंग की साड़ी पहने शीशे के सामने खड़ी हुई बालों में कंधी फेर रही है। देखते ही कहती है, “तुम भी क्या याद करोगे, आज तुम्हारी पसंद की...” लेकिन मेरी ओर घूमकर देखते ही अपनी बात बीच में ही तोड़ देती है और एकदम सामने आकर कहती है, “क्या हुआ?”

मैं कार्ड निकालकर उसके सामने रख देता हूँ। कार्ड पढ़कर वह हवा में ही क्रॉस का निशान बनाकर कुछ बुदबुदाती है। फिर पास आकर मेरे बालों को सहलाकर कहती है, रोओ मत, रोने से क्या होगा!” कहते-कहते उसका गला भारी हो जाता है और वह रसोई की ओर चली जाती है। थोड़ी देर में आती है तो वही सादी फूलदार धोती पहने हुए, हाथ में पानी से भरा गिलास लिए हुए, “लो उठो, हाथ-मुँह धो लो।”

दस बजकर दस।

गाड़ी छूटने में अभी पाँच मिनट और हैं। डिब्बे में भीड़ नहीं है। जगह अच्छी मिल गई है। रात-भर आराम से सोते हुए जाया जा सकता है। हलका-सा बिस्तर बर्थ पर बिछाकर ग्रेस नीचे उतर आई है। कह रही है, “देखो, पहुँचते ही ख़बर देना और ज़्यादा दिन मत लगाना।”

मैं कुछ नहीं बोल पाता हूँ। एक ही प्रश्न मन में उठता है-मैं क्यों जाऊँ वहाँ? मुझे किसने बुलाया है? अम्मा ने सूचना भिजवाई है, बुलाया तो नहीं है। भइया

से सब कुछ मालूम हो गया होगा, लेकिन कुछ नहीं। मेरे बारे में, ग्रेस के बारे में एक शब्द भी नहीं।

जेब में पड़ा टिकट चुभ-सा रहा है। एक छोटे-से शहर का स्टेशन याद आ रहा है, जहाँ एक अजनबी शहर को जाने वाली गाड़ी में बैठकर फिर कभी न लौटने की कसम खा रहा हूँ, जहाँ मिसरानी भौजी विदा देने आई हैं और रो पड़ी हैं....

एक शहर याद आ रहा है, जहाँ एक लड़का बेगुनाह पिटकर अपने पैर घसीटता हुआ-सा चल रहा है और एक जवान लड़की रस्सियों की मार के बाद कराह रही है...

गाड़ी सीटी देकर चलने को होती है कि मैं तेज़ी से बिस्तर समेटकर प्लेटफॉर्म पर उतर आता हूँ। ग्रेस पूछ रही है, “यह क्या, उतर क्यों आए?”

मैं चुप हूँ। खुला हुआ बिस्तर मेरी बाँहों में भिंचा हुआ है और गाड़ी आँखों के सामने से धीरे-धीरे खिसक रही है। थोड़ी दूर जाकर गाड़ी की गति तेज़ हो गई है और इंजन की छक-छक की तरह मेरे सीने में धक-धक हो रही है। प्लेटफॉर्म जैसे एक अंधी गुफ़ा बन गया है और वहाँ खड़ा हुआ मैं किसी पुरानी घड़ी की क्लिक-क्लिक की आवाज़ सुन रहा हूँ।

* ————— *

रमेश उपाध्याय

जन्म 1942 उ.प्र. जिला एटा में हुआ। अध्यापन से सेवानिवृत्ति के बाद पूर्णकालिक लेखन दण्ड-द्वीप, हरे फूल की खुशबू, शेष इतिहास, नाटक आदि की लगभग 30 पुस्तकें प्रकाशित। अनेक सम्मान और पुरस्कार प्राप्त - चर्चित पत्रिका कथन के संपादक।